लोकतंत्र समीक्षा

खण्ड 40 अंक 1 जनवरी – मार्च, 2008

सम्पादक मण्डल

अध्यक्ष

श्री राम निवास मिर्धा

सम्पादक

प्रौफेसर अश्वनी कुमार बंसल

सहायक सम्पादक

डॉ. रविन्द्र सिंह

सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान

नई दिल्ली

विषय सूचि

खण्ड 40 अंक 1 जनवरी - मार्च, 2008

1. संघवाद के बदलते प्रतिमान
डॉ. प्रदीप कुमार सिंह
श्रीमती प्रियंका सिंह 1

2. भूमण्डलीकरण : भारत और चीन - एक तुलनात्मक अध्ययन
डॉ. अमित कुमार सिंह 10

3. भारतीय लोकतन्त्रः राजनीति में जाति की भूमिका
डॉ. सतीश कुमार
डॉ. शशी प्रभा 24

4. संसदीय विशेषाधिकारों के संहिताकरण का प्रश्न
डॉ. राम बहादुर वर्मा 38

5. वैश्वीकरण का संविधान, प्रशासन और राजनीति पर प्रभाव
डॉ. जयकुमार मिश्रा 48

6. भारतीय संसदीय लोकतंत्र में दल व्यवस्था
डॉ. महावरी प्रसाद मोदी 58

वैश्वीकरण का संविधान, प्रशासन और राजनीति पर प्रभाव

*डॉ. जयकुमार मिश्रा**

मानव जीवन को सुखी, समुन्नत एवं सार्थक बनाने हेतु समय-समय पर अनेक विचारधाराओं का प्रतिपादन हुआ है, यदि इन विचारधाराओं को स्थूल रूप से वर्गीकृत किया जाय तो मुख्य रूप से दो विचारधाराएँ उभर कर सामने आती हैं - उदारवादी (पूँजीवादी) विचारधारा तथा मार्क्सवादी विचारधारा। उदारवादी विचारधारा मुख्यतः पूँजी के माध्यम से मनुष्य व समाज की नीति व नियति को निर्धारित करने में विश्वास करती है, तो मार्क्सवादी विचारधारा मनुष्य को मशीन, पूँजी एवं समाज के शोषण से बाहर निकालकर एक श्रम आधारित सामाजिक संरचना तैयार करने का सिद्धान्त प्रस्तुत करती है। यह शोषण के समूलोन्मूलन हेतु एक क्रांतिकारी सिद्धान्त का जनक है। उदारवाद और मार्क्सवाद अपनी विकासयात्रा में अनेक सामयिक व परिस्थितिजन्य परिवर्तनों से गुजर चुके हैं, लेकिन मूल मंतव्य वही है, जो प्रारम्भ में रहा। उदारवाद का ही आधुनिक स्वरूप है - वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण।

वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण राष्ट्रों की भौगोलिक सीमाओं से परे आर्थिक सहयोग की प्रक्रियाओं एवं उनके प्रबन्धन का मुक्त प्रवाह है। विश्व अर्थव्यवस्था में आया खुलापन, आपसी जुड़ाव और परस्पर निर्भरता के विस्तार को वैश्वीकरण कहा जा सकता है। पॉल स्ट्रीटीन ने अपनी पुस्तक 'ग्लोबलाइजेशन-थ्रेट ऑर अपार्चुनिटी?' में वैश्वीकरण की नकारात्मक और सकारात्मक कुल मिलाकर 36 परिभाषाएं (परिभाषाएं अर्थात् लक्षणों का समुच्चय) दी हैं, जिनमें से कुछ विज्ञान या तकनीक पर आधारित है तो कुछ आर्थिक गतिविधियों को केन्द्र में रखकर की गई है, तो कुछ राजनीतिक परिवर्तनों पर केन्द्रित है।[1] वैश्वीकरण को पारिभाषिक रूप से अर्थशास्त्र के माध्यम से बेहतर ढंग

---

* अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, राजा हरपाल सिंह पी.जी. कालेज, सिंगरामऊ, जौनपुर (उ.प्र.)

1 स्ट्रीटीन, पॉल, *'ग्लोबलाइजेशन-थ्रेट ऑर अपार्चुनिटी?'*, कोपेनहेगेन बिजनेस स्कूल प्रेस, 2001

से समझा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से थामस फ्रीडमैन ने 'वैश्वीकरण' को परिभाषित करते हुए लिखा है कि सूचना प्रौद्योगिकी (मुख्यतः इन्टरनेट), वित्तीय बाजारों तथा आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र में पारस्परिक निर्भरता ने राज्यों की सामाओं का महत्व कम किया है, इससे विश्व को संगठित व संयुक्त होने में मदद मिली है तथा इसका लाभ भी हुआ है, लेकिन इस संगठित विश्व में गलाकाट बाजार - प्रतिस्पर्द्धा भी बढ़ी है। इसका कारण 'लाभ' कमाने की प्रवृत्ति है। उदारीकरण और निजीकरण वस्तुतः वैश्वीकरण के ही उपांग हैं। उदारीकरण का तात्पर्य पारम्परिक रूप से नियमों की कठोरता एवं व्यापार के आयात-निर्यात पर लगे हुए विभिन्न कानूनी प्रतिबन्धों को हटाना या उन्हें उदार या नरम बनाना है। निजीकरण का तात्पर्य व्यापार में राजकीय (प्रचलित अर्थ में सरकारी) आधिपत्य को समाप्त कर निजी उद्यमियों को प्रोत्साहन देना है। विभिन्न देशों में कार्यरत सरकारें तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन आदि आज वैश्वीकरण के पोषक का कार्य कर रही हैं।

वैश्वीकरण एक परिवर्तन बिन्दु है और कोई भी परिवर्तन जो राज्य द्वारा समर्थित या प्रायोजित है, उसका व्यापक प्रभाव सभी क्षेत्रों में (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में) दिखाई देता है। ये सभी परिवर्तन स्वाभाविक रूप से कानून व संविधान को भी प्रभावित करते हैं। वैश्वीकरण के जो नकारात्मक प्रभाव देखने में आ रहे हैं, वे वैश्वीकरण के लाभों की तुलना में अधिक गम्भीर तथा चिन्ताजनक हैं। ये वैश्वीकरण के अनअपेक्षित उप-उत्पाद (By Product) हैं। लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि वैश्वीकरण के नकारात्मक प्रभाव विकासशील देशों में जितने आसानी से देखे जा रहे हैं, उतने आसानी से वे विकसित देशों में दिखाई नहीं देते, यद्यपि वैश्वीकरण का विरोध विकसित देशों में भी शुरू हो चुका है।

यदि हम भारत की बात करें तो स्पष्ट होगा कि वैश्वीकरण के कारण भारत में विदेशी पूँजी तो आयी, किन्तु इसका निवेश केवल उन्हीं राज्यों/प्रान्तों में हुआ, जो पहले से ही एक विकसित आधारभूत ढाँचा रखते थे। भारत में पहले से ही कुछ राज्य सम्पन्न तथा कुछ राज्य निर्धन थे, वैश्वीकरण के कारण प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश भी सम्पन्न राज्यों में ही हुआ, निर्धन राज्यों को इससे कुछ विशेष लाभ नहीं मिला, परिणामतः भारत में सम्पन्न व निर्धन राज्यों के बीच की दूरी बढ़ गयी है। आर्थिक विकास की यह असमानता प्रदेश/प्रान्त के भीतर, देश के भीतर तथा विश्व के भीतर बढ़ती जा रही है। प्रदेश के भीतर यदि हम उत्तर-प्रदेश का उदाहरण लें तो ज्ञात होगा कि, उत्तर प्रदेश में पश्चिमी उत्तर प्रदेश (नोएडा, गाजियाबाद, मेरठ, आगरा आदि जिले) उद्योग धन्धों की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश (मऊ, आजमगढ़, बलिया, देवरिया, चन्दौली आदि जिले) में उद्योग-धन्धे लगभग शून्य हैं। यहाँ कोई भी बहुराष्ट्रीय कम्पनी वैश्वीकरण की नीति अपनाने के बाद भी नहीं आई। परिणामतः

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में लोगों का रहन-सहन व जीवन स्तर, पूर्वी उ.प्र. के लोगों के तुलना में अधिक ऊँचा है। यदि हम भारत के विभिन्न प्रान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश आदि विकसित राज्य हैं, तो उड़ीसा, छत्तीसगढ़, बिहार आदि विपन्न राज्य हैं। विपन्नता का उदाहरण है-बिमारु राज्य। वैश्वीकरण ने 'बिमारु' राज्य की संख्या में कोई कमी नहीं की है। यदि हम विश्व परिदृश्य की बात करें और केवल दक्षिण एशिया का उदाहरण लें तो पाएंगे कि भारत की तुलना में पाकिस्तान, भूटान, नेपाल, बांग्लादेश आदि को वैश्वीकरण का कोई उल्लेखनीय लाभ नहीं मिल पाया है। सम्पन्नता एवं विपन्नता की यह अन्तहीन खाई पाटकर ही हम समुन्नत वैश्विक संरचना का निर्माण कर सकते हैं। भारत के भीतर इकाई राज्यों के बीच निरन्तर बढ़ती आर्थिक खाई हमारी संघीय व्यवस्था (Federal Structure) के लिए खतरा बन सकती है। कुछ वर्ष पूर्व चन्द्रबाबू नायडू ने चेतावनी भरे स्वर में कहा था कि विकसित राज्यों के संसाधनों की कीमत पर अविकसित या पिछड़े राज्यों (BIMARU) को सहायता देने की केन्द्र की प्रवृत्ति चिन्ताजनक है। आने वाले दिनों में सम्भव है कि भारत के विकसित राज्यों में यह सोच पैदा हो कि भारत के अविकसित राज्य उनके ऊपर बोझ हैं, इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ घातक होंगी। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णयों में संघात्मक व्यवस्था को भारतीय संविधान का आधारभूत ढाँचा घोषित किया है, अतः संघीय प्रणाली को दुर्बल बनाने वाली कोई भी बात संविधान की मूल संरचना पर प्रहार करेगी। वैश्वीकरण में निहित असमान आर्थिक विकास के इस खतरे को समझना आवश्यक है।

वैश्वीकरण के कारण 'क्षेत्रवाद' और तद्जनित समस्याएँ भी सामने आ रही हैं। वैश्वीकरण के कारण कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र आदि विकसित राज्यों में उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा आदि पिछड़े राज्यों से मजदूर व युवा वर्ग जाकर रोजगार प्राप्त करना चाहता है, किन्तु विकसित राज्यों के निवासियों को लगता है कि उनके राज्य में रोजगार के नये अवसरों को अन्य राज्य के लोग आकर प्राप्त कर रहे हैं, इस सोच से तनाव बढ़ता है। महाराष्ट्र से उत्तर भारतीयों को निकालने का आन्दोलन तथा असम में बिहारी मजदूरों की हत्याएँ, इसी सोच का परिणाम हैं। वैश्वीकरण ने 'आर्थिक अवसरों' की संख्या में वृद्धि की है लेकिन जब कहीं स्थान विशेष पर प्रभावी कोई एक वर्ग इन अवसरों का अकेले ही उपयोग करने का प्रयास करता है तथा अन्य लोगों को इससे वंचित करने की कोशिश करता है तो यहीं आकर 'क्षेत्रवाद' शुरु हो जाता है। क्षेत्रवाद की यह भावना देश की 'एकता और अखण्डता' (यह शब्द संविधान की प्रस्तावना में वर्णित है और संविधान का मौलिक ढाँचा भी है) के विरुद्ध है। यह केवल भारत की ही समस्या नहीं है। अप्रवासी कामगारों को लेकर यूरोपीय देशों की सरकारों ने भी अपने कानूनों को कठोर बनाया है। फ्रान्स, जर्मनी, ब्रिटेन जैसे देशों में कुछ दलों का मुख्य चुनावी एजेण्डा ही विदेशियों को काम करने के अवसर से वंचित

करते हुए काम के अवसरों को अपने देश के निवासियों के लिए सुरक्षित करना है। भारत में शिवसेना की भी यही प्रवृत्ति है।

वैश्वीकरण का लाभ भारत में केवल आर्थिक एवं भौतिक क्षमता से सम्पन्न वर्ग ही उठा पाया है। इन अवसरों का लाभ गरीब मजदूर या मेहनत करने वाला वर्ग अब तक नहीं उठा सका है। भारत में जिसे O.B.C., S.C. और S.T. कहा जाता है उसके अधिकांश सदस्य इन अभिनव अवसरों से वंचित हैं। इससे सामान्य वर्ग और पहले से ही आरक्षण प्राप्त वर्ग के बीच दूरी बढ़ती जा रही है। पंचायती राज व्यवस्था के कारण पिछले डेढ़ दशक में जहाँ राजनीति ने समाज के निचले वर्ग में अपनी पैठ मजबूत की है अर्थात् उनकी (O.B.C., S.C. और S.T.) राजनीतिक सहभागिता बढ़ी है, उनकी संसद में प्रभावी सदस्य संख्या भी है, लेकिन वहीं अर्थव्यवस्था में आये नवीनतम परिवर्तनों का लाभ समाज के इस वर्ग तक नहीं पहुँच सका है। ऐसी दशाओं में यह वर्ग•वैश्वीकरण के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्थायी रुप से कैसे बनाए रह सकता है? सम्भव है कि आगे आने वाले दिनों में भारतीय समाज का यह वर्ग वैश्वीकरण के व्यापक विरोध में उठ खड़ा हो। पूँजीपति पूँजी का निवेश 'लाभ' कमाने के लिए करते हैं, उन्हें स्थानीय मूल्यों से कोई 'लगाव' नहीं होता है, वे स्थानीय परिप्रेक्ष्य में सामाजिक-आर्थिक न्याय की संकल्पना को स्थापित करने में कोई रुचि नहीं लेते। पिछले दिनों जब भारत सरकार ने निजी क्षेत्र में आरक्षण की बात की तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने इसमें कोई रुचि नहीं दिखाई। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ किसी भी देश में पूँजी लगाने के पूर्व तो उस देश के 'मूल्यों' के प्रति वचनबद्धता प्रदर्शित करती हैं, लेकिन एक बार स्थापित होने के बाद वे उन मूल्यों को प्रायः भूल जाते हैं, कभी-कभी तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कानूनों को तोड़ने में भी कोई हिचक नहीं दिखातीं। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने किसी देश में अपने हित-साधन हेतु वहाँ की संसद में किसी कानून को पारित करने के लिए 'प्रयास' किया है। यह स्थितियाँ व्यवस्थापिका पर एक नए दबाव की सूचना दे रही हैं।

वैश्वीकरण के कारण अनेक विकासशील देशों में आज ऐसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पूँजी निवेश कर रही हैं जिनकी आर्थिक ताकत उस देश के सम्पूर्ण आर्थिक सामर्थ्य से कई गुना अधिक है। अपने इस आर्थिक ताकत का अनुचित लाभ ये कम्पनियाँ प्रायः उठाती रहती हैं। नुरीना हर्टज अपनी पुस्तक 'द साइलेन्ट टेकओवर' में लिखती हैं कि आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमिका इतनी बढ़ गयी है कि वे राजनीतिक शक्तियों का व्यापक प्रयोग एवं प्रबन्धन कर रही हैं और ऐसा करने में वे न्याय, समानता,

अधिकार, पर्यावरण और राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे विषयों को भी उपेक्षित कर रहे हैं।[2] उन्होंने आगे लिखा है कि अधिकांश अमेरिकी यह अनुभव करते हैं कि उनके जीवन व चिन्तन का अधिकांश भाग व्यापारिक गतिविधियों एवं आर्थिक क्रियाकलापों तक सीमित हो गया है और इससे मानव जीवन के अन्य पक्षों की उपेक्षा हो रही है।[3] हर्ट्ज मानती हैं कि लोकतन्त्र और मानवाधिकार, इन दो महत्वपूर्ण मानवीय विचारधाराओं को वैश्वीकरण से खतरा उत्पन्न हो गया है। सामान्यतः लोकतन्त्र को 'जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा शासन' माना जाता है लेकिन आज लोकतन्त्र का तात्पर्य लोकतान्त्रिक ढंग से चुनी हुई सरकार न होकर एक ऐसी सरकार से है, जो अमेरिकी पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति सहानुभूति रखती हो। वस्तुतः एकध्रुवीय विश्व में बहुत सी बातों का औचित्य अमेरिका के अनुसार तय हो रहा है। लोकतन्त्र क्या है, इसकी परिभाषा अमेरिका तय करेगा, कौन देश लोकतान्त्रिक है यह भी अमेरिका ही तय करेगा और किस देश के पास सामूहिक विनाश के हथियार हैं, यह भी अमेरिका ही निर्धारित करेगा न कि संयुक्त राष्ट्र संघ। उन्होंने अपनी पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं, जिससे प्रमाणित होता है कि वैश्वीकरण के इस युग में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि उनके दबाव में आज विदेश नीति संचालित हो रही है और सैन्य कार्यवाहियाँ की जा रही हैं।[4] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जानकार प्रेक्षकों का मत है कि इजराइल की आक्रामक नीति का अमेरिका इसलिए विरोध नहीं करता क्योंकि अमेरिका में हथियार निर्माताओं का एक बड़ा वर्ग चाहता है कि पश्चिम एशिया में युद्ध जैसी दशाएँ बनी रहें, तभी तो इजराइल के भय से अन्य देश हथियार खरीदेंगे। फ्रीडमैन का मानना है कि आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का दायित्व व दायरा परिभाषित करने की आवश्यकता है। इसके लिए सार्थक व सुदृढ़ राजनीतिक प्रतिबद्धता दिखानी होगी। 'प्रतिबद्धता' की बात वे इसलिए करते हैं क्योंकि अनेक बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ राजनीतिज्ञों की चुनाव के समय आर्थिक मदद करती हैं। अतः ऐसे राजनीतिज्ञ इन कम्पनियों पर 'उचित दबाव' कैसे बना पायेंगे?

व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा में एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य पीछे छूटते जा रहे हैं। आज आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा के साथ ही राष्ट्रों के बीच भाषा, संस्कृति, सभ्यता और मूल्यों के स्तर पर भी प्रतिद्वन्दिता बढ़ी है क्योंकि पूँजी का निवेश केवल व्यापारिक सम्बन्ध ही स्थापित नहीं करता, वरन् सामाजिक, सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित करता है। जिस प्रकार अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी से युक्त विदेशी पूँजी का निवेश स्थानीय लघु एवं कुटीर उद्योगों को समाप्त

---

2 हर्टज, नुरीना, *'द साइलेन्ट टेकओवर'*, फ्री प्रेस, 2001 पृ० 7-8.

3 *वही*, पृ. 10.

4 *वही*, पृ. 76-78

कर रहा है, उसी प्रकार विदेशी सांस्कृतिक आक्रमण स्थानीय बोलियों, भाषाओं तथा आचार-विचार को भी बुरी तरह से प्रभावित कर रहा है। क्षेत्रीय व स्थानीय स्तर पर प्रयोग की जाने वाली अनेक भाषायें और बोलियाँ अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका महाद्वीप में आज प्रचलन से लगभग बाहर हो गयी हैं, सर्वत्र अंग्रेजी छायी हुई है। वैश्वीकरण के इस दुष्प्रभाव से राष्ट्रीय संस्कृति और भाषा की रक्षा परम आवश्यक है।

'द इण्टरनेशनल फोरम ऑन ग्लोबलाइजेशन' का मानना है कि वैश्वीकरण ने उत्तर (विकसित देश) तथा दक्षिण (विकासशील या अविकसित देश) दोनों ही जगह बेरोजगारी को बढ़ा दिया है। यद्यपि औद्योगिक गतिविधियां तीव्र रुप से बढ़ी हैं लेकिन साथ ही वह अपारदर्शी, अप्रतिबन्धित और अनुत्तरदायी भी हो गयी हैं। जोसेफ इस्टिग्लिट्ज ने अपनी पुस्तक 'ग्लोबलाइजेशन ऐण्ड इट्स डिस्कन्टेण्ट्स' में लिखा है कि, 'निजीकरण ने जितनी नौकरियों को पैदा किया है, उससे अधिक समाप्त कर दिया है।'[5] बेरोजगारी निराशा बढ़ाती है और इस निराशा के अनेक गम्भीर सामाजिक परिणाम होते हैं। वस्तुतः बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ मानव श्रम की जगह मशीनीकरण पर बल देती हैं। विकसित देशों में तो मानव श्रम मिलना कठिन होता है अतः वहाँ मशीनीकरण का कोई गम्भीर परिणाम नहीं निकलता, लेकिन विकासशील देशों में जहाँ हर हाथ को काम चाहिए, वहाँ मशीनीकरण के कारण बेरोजगारी में भारी वृद्धि होती है। बेरोजगारी आगे चलकर लोगों की क्रय शक्ति पर बुरा प्रभाव डालती है, क्योंकि नौकरी के अभाव में खरीदने हेतु पैसा कहाँ से आयेगा और जब वस्तुएँ नहीं बिकेंगी तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ न केवल पेंशन आदि सुविधाएँ बन्द करेंगी वरन् वे छंटनी भी शुरु कर देंगी। परिणामतः स्थिति बदतर होती जायेगी, यह मन्दी की दशा होगी।

भारत में आयी विदेशी कम्पनियों की व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा की हम बात करें तो ज्ञात होगा कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की आक्रामक प्रतिस्पर्द्धा के कारण भारत की छोटी-बड़ी अनेक औद्योगिक इकाईयाँ भारत के ही बाजार से बाहर होती चली गयी हैं। पारले कम्पनी के उत्पादन लिम्का व थम्सअप आदि का स्थान आज पेप्सी और कोकाकोला ले चुके हैं। टाटा व गोदरेज का विशाल साबुन बाजार आज हिन्दुस्तान लीवर (अब यूनीलीवर) द्वारा खरीदा जा चुका है। ऐसे में क्या यह आवश्यक नहीं हो जाता कि सार्वजनिक निगम और भी मजबूती से सामने आयें ताकि इन बड़ी विदेशी कम्पनियों के उत्श्रृंखल एकाधिकार से बचा जा सके। विनिवेश के साथ ही नए व मजबूत आर्थिक निगमों की स्थापना आज व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के नए उत्तरदायित्व हैं। गत वर्षों में जिस प्रकार इन पेय पदार्थों में कीटनाशकों की मात्राएँ निर्धारित मानक से

---

5 जोसेफ इस्टिग्लिट्ज, *'ग्लोबलाइजेशन ऐण्ड इट्स डिस्कन्टेण्ट्स'*, डब्ल्यू.डब्ल्यू. नार्टन एण्ड कम्पनी, 2002 पृ. 56-57.

अधिक पायी गयीं हैं, वह चिन्तनीय है। ये कम्पनियाँ विकसित देशों में जब उत्पादन करती हैं तो वहाँ इनके उत्पादन उच्च गुणवत्ता पर आधारित होते हैं किन्तु जब ये भारत जैसे विकासशील देशों में उत्पादन करती हैं तो ये अपने उत्पादों की गुणवत्ता एवं उच्च मानकता के प्रति गम्भीर नहीं रह जातीं। ऐसे में यह प्रशासन का दायित्व है कि वह इन कम्पनियों के साथ कड़ाई से प्रस्तुत हो। फ्रीडमैन इसी प्रशासनिक कार्यवाही के सन्दर्भ में 'राजनीतिक प्रतिबद्धता' की बात करते हैं जिसे पहले बताया जा चुका है।

वैश्वीकरण में पूँजी व श्रम दोनों का ही विश्व स्तर पर मुक्त प्रवाह सुनिश्चित किया जाना चाहिए। वैश्वीकरण के वर्तमान क्रम में केवल पूँजी के मुक्त प्रवाह की बात की जा रही है, शारीरिक श्रम करने वाले मजदूरों के विश्व स्तर पर मुक्त प्रवाह की बात बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और विकसित देश नहीं कर रहे हैं। यदि श्रम का भी मुक्त प्रवाह सुनिश्चित कर दिया जाय तो विकासशील देशों के मजदूरों की स्थिति 'लाभ' में होगी, उनका जीवन स्तर भी ऊपर उठ सकेगा, परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है।

वैश्वीकरण का ही परिणाम है कि आज संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) की तुलना में विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन जैसी आर्थिक संस्थाओं का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। यह एक प्रकार का एकाधिकारवाद है, आज सैन्य साम्राज्य के स्थान पर व्यापारिक साम्राज्य बनाये जा रहे हैं। वैश्वीकरण ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर 'अर्थ' को सभी नीतियों और निर्णयों के केन्द्र में रख दिया है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि आज सरकारों की प्राथमिकता में आर्थिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है, जबकि सर्वाधिक संवेदनशील सामाजिक आधारभूत ढाँचा सरकार के मुख्य एजेण्डे में नहीं है। सरकार आज डॉलर और रुपया के बीच होने वाले उतार-चढ़ाव और परमाणु करार को लेकर अधिक परेशान होती है। रुपये की बढ़ती दरों से चिन्तित होकर सरकार द्वारा निर्यातकों (पूँजीपतियों) के लिए आर्थिक पैकेज की घोषणा की जाती है, लेकिन किसानों की आत्महत्या पर न तो सरकार उद्वेलित होती है और न ही मीडिया उसे 'फोकस' करती है। 2004 ई. में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए केन्द्रीय कृषि मन्त्री शरद पवार ने कहा था कि, अब तक एक लाख से अधिक किसान आत्महत्या कर चुके हैं। नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो की 2006 की रिपोर्ट के अनुसार, 2006 ई. में केवल महाराष्ट्र में 4453 किसानों ने आत्महत्या की, जबकि उसी वर्ष पूरे देश में किसानों की आत्महत्या के 17060 मामले प्रकाश में आये। आज भारत में कृषि कोई 'लाभ का सौदा' नहीं रह गया है। 1991 ई. में वैश्वीकरण की नीति से जुड़ने के बाद सरकार की नीतियों ने प्रति हेक्टेयर कृषि उत्पादन और प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन दोनों में बढ़ती हुई जनसंख्या की तुलना में कोई वृद्धि नहीं की है। कृषि क्षेत्र में हमारी वृद्धि दर 2006-07 में 2 प्रतिशत से भी कम थी। इससे उद्भूत चिन्ताओं एवं सक्रियता के कारण इस वर्ष (2007-08) कृषि क्षेत्र में वृद्धि देखी

जा रही है। वैश्वीकरण की नीति अपनाने के बाद कृषि भूमि का क्षेत्रफल जो पहले से ही कम हो रहा था, उसमें तीव्र गिरावट देखी जा रही है। 1991-2003 के बीच 50 लाख हेक्टेयर भूमि का गैर कृषि कार्यों के लिए प्रयोग किया गया, जो कि 1951-1991 के बीच (अर्थात् 40 वर्षों में) गैर कृषि कार्यों हेतु प्रयोग किये गये भूमि का लगभग आधा है। 2005 ई. में विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs) के अस्तित्व में आने के बाद गैर कृषि कार्यों हेतु प्रयोग की जाने वाली कृषि भूमि का क्षेत्रफल बढ़ा है। कृषि भूमि में ह्रास चिन्तनीय है। सिंगूर और नन्दीग्राम में जिस तरह किसानों ने संगठित होकर अपनी भूमि को विशेष आर्थिक क्षेत्रों के लिए प्रयोग में न दिये जाने का आन्दोलन छेड़ा, वह 'सेज पॉलिसी' पर पुनर्विचार को प्रेरित करता है। हम निर्यात बढ़ाने के लिए कृषि योग्य भूमि पर सेज बनायेंगे तो फिर कृषि उत्पादन तो कम होगा ही खाद्य सुरक्षा भी खतरे में पड़ जायेगी। 'खाद्य सुरक्षा' राष्ट्र की सुरक्षा एवं सम्प्रभुता से जुड़ा हुआ है। हम परमाणु करार के बिना जीवित रह सकते हैं, लेकिन 'भोजन' के अभाव में नहीं। 8-10 प्रतिशत की सकल वृद्धि दर (GDP) तभी प्राप्त की जा सकती है, जब कृषि क्षेत्र भी भारी सहयोग करे, लेकिन वर्तमान में सरकार इस पर ध्यान नहीं दे रही है। कोई भी नीति बनाते समय यह बात अवश्य ध्यान में रखनी होगी कि हमारी 60 प्रतिशत जनसंख्या खेती पर ही निर्भर है और स्वतन्त्रता के 60 वर्ष बाद भी हम कृषि को उद्योग-व्यापार की तरह सामाजिक-आर्थिक रुप से प्रतिष्ठित नहीं कर पाये हैं। हमारी खेती आज भी मानसून पर निर्भर है और कृषि क्षेत्र कठिनाईयों का सामना कर रहा है। सरकार का कृषि क्षेत्र की ओर निवेश भी निरन्तर घट रहा है। यह सभी बातें वैश्वीकरण की नीति अपनाने के बाद खेती की दुर्दशा बताने में सक्षम हैं। कृषि को निजी क्षेत्र के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि यह देश के 50 करोड़ लोगों की जीविका तथा सम्पूर्ण भारत के जीवन का प्रश्न है। कृषि को हम WTO के दिशा-निर्देशों द्वारा नहीं चला सकते, इसमें हमारी अपनी सोच तथा दूरदर्शितापूर्ण नीतियों की तत्काल आवश्यकता है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश को आज चावल, गेहूँ, दाल और खाद्य तेलों का आयात करना पड़ रहा है। किसानों को अपनी उपज का यथोचित मूल्य नहीं मिल रहा है और दूसरी ओर वैश्वीकरण के कारण खुदरा क्षेत्र में आयी विदेशी कम्पनियों ने कमर ही तोड़ दी है। छोटे दुकानदारों, मजदूरों, किसानों आदि की स्थिति यह है कि वे निरन्तर हाशिये पर जा रहे हैं, लोग कृषि कार्य से मुँह मोड़ चुके हैं, गाँव छोड़कर शहर में बसने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। कृषि की दुर्दशा और नगरों की ओर पलायन ने शहरों की प्रशासनिक व्यवस्था पर अनावश्यक दबाव डालना शुरु कर दिया है। वैश्वीकरण के इस युग में भारतीय राजनीति और **अर्थनीति दो विपरीत दिशाओं में जा रही है। राजनीति यहाँ समाज के निचले वर्ग में या अब तक राजनीतिक रुप से वंचित वर्ग में प्रवेश कर रही है** तो वहीं अर्थनीति **समाज के ऊपरी वर्ग**, (पूँजीपति तथा उच्च मध्यम वर्ग) को लाभ पहुँचाने में लगी है।

आज लोक कल्याणकारी और समाजवादी राज्य की छवि भारतीय संविधान के पन्नों पर तो स्पष्ट है, लेकिन व्यवहार में धूमिल पड़ती जा रही है। यह स्थितियाँ सामान्य जन के मन में 'राज्य' की भूमिका, भविष्य एवं अस्तित्व के प्रति चिन्ता पैदा कर रही हैं। वैश्वीकरण, निजीकरण, बाजारीकरण आदि के इस युग में सरकार की भूमिका केवल 'व्यापार के प्रशासन' तक ही सीमित मानी जाती है। इसके कारण आज 'राज्य' बैकफुट पर है और उदारवादी विचारधारा के अनुसार 'न्यूनतम राज्य' की ओर हम बढ़ रहे हैं। ऐसी दशा में 'लोक कल्याणकारी राज्य' तथा 'समाजवादी राज्य' जैसी भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत अवधारणाओं की सार्थकता एवं 'क्रियान्वयन के प्रति प्रतिबद्धता' पर पुनर्विचार पर आवश्यकता है।

भारतीय संविधान में वर्णित नीति-निर्देशक तत्त्व एक सामाजिक-आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए सरकार से निरन्तर प्रयास करते रहने की बात करते हैं, जबकि वैश्वीकरण की मांग है कि सरकार सामाजिक सुरक्षा जैसे मुद्दों पर अपना नियन्त्रण हटाते हुए अपने लिए आरक्षित क्षेत्रों को निजी उद्यमियों हेतु खोले। 'श्रमिकों का हित संवर्द्धन' और 'पूँजीपति की योग्यता व क्षमता का दोहन' इन दोनों वांछनीय लक्ष्यों में सामंजस्य कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर खोजना 'राज्य' की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है और वर्तमान वैश्वीकरण की माँग भी है।

'राज्य' जहाँ मनुष्य को एक 'व्यक्ति' के रुप में देखता है वहीं बहुराष्ट्रीय निगम उसे केवल 'उपभोक्ता' के रूप में देख रहे हैं। ऐसे में भारतीय संविधान की प्रस्तावना में वर्णित शब्द 'व्यक्ति की गरिमा' में निहित भावों व मूल्यों का कहाँ तक संरक्षण हो पाएगा- यह आने वाले कल का विचारणीय प्रश्न है।

उपरोक्त वर्णित कारणों तथा अन्य अनेक कारणों से विश्व के विभिन्न भागों में चल रहे 'प्रति वैश्वीकरण आन्दोलन' (एण्टी ग्लोबलाइजेशन मूवमेण्ट) के तर्क व मानवीय चिन्ताओं को समझने की महती आवश्यकता है। वैश्वीकरण में निहित क्षमताओं एवं आज के युग के संकट को परस्पर जोड़ते हुए क्यूबा के पूर्व राष्ट्रपति फीडेल कास्त्रों के ये शब्द बरबस याद आ रहे हैं, जो उन्होंने जी-77 के सम्मेलन में कुछ वर्ष पूर्व कहे थे- 'इससे पूर्व इतिहास में कभी भी मानव जाति के पास इतनी व्यापक वैज्ञानिक व तकनीकी क्षमता नहीं थी, सम्पत्ति तथा मानव के कल्याण के सृजन की इतनी विश्वस्तरीय अर्हता नहीं थी, लेकिन इसके पूर्व कभी भी दुनिया में इतनी अधिक असमानता, गरीबी और मानवीय गरिमा को धूल धूसरित कर देने वाली समस्याएँ भी नहीं थी।'

उपरोक्त परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आज वैश्वीकरण की प्रचलित अवधारणा के अनुसार 'राज्य' को न्यूनतम भूमिका न निभाकर दृढ़ता से अपनी [illegible] निर्धारित

करनी चाहिए, जिससे कि यह अपनी सम्प्रभुता और नागरिकों की सुरक्षा करके अपनी उपादेयता सिद्ध कर सके।